OPEN ACCESS JOURNALS
Indiana Journal of Multidisciplinary Research
Abbreviate Tittle- Ind J Multi Res
ISSN *(Online)*- 2583-3820
Journal Homepage Link- https://indianapublications.com/Journals/IJMR

INDIANA PUBLICATIONS
PRODUCTIVE AND QUALITY RESEARCH

Research Article

Special Issue-|2020

लोक दर्शन

डॉ. राकेश सोनी

दर्शनशास्त्र विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक (मध्यप्रदेश),

Article History
Received: 15.10.2020
Accepted: 07.11.2020
Published: 16.11.2020

Citation
Soni, R. (2020). लोक दर्शन. *Indiana Journal of Multidisciplinary Research, Special Issue*, 8-11.

Abstract: भारतीय ज्ञान परंपरा के प्रामाणिकता के तीन स्रोत माने गये हैं-आगम, निगम और लोक एवं लोकायताइनमें से आगम और निगम प्रमाण की चर्चा तो प्रमुखता से होती है किंतु, लोक एवं लोकायत की चर्चा प्रायः गौण रूप में या संदर्भ से अलग एकाकी रूप में होती है। यद्यपि चार्वाक दर्शन को लोकायत अर्थात् लोक में व्याप्त दर्शन के रूप में भी माना जाता है तथापि यह बृहस्पति और चार्वाक नामक व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रतिपादित दर्शन ही है, लोक द्वारा प्रतिपादित नहीं। हलाँकि, यह दर्शन सामान्य रूप से लोक भावना के अनुरूप है फिर भी इसे लोक दर्शन के रूप में अधिक से अधिक बीज रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है, विकसित रूप में नहीं। वास्तव में लोक दर्शन वह है जो **लोक का, लोक के लिये, लोक के द्वारा प्रतिपादित लोक दृष्टि हो जो पूरे लोक में व्याप्त हो।** ऐसी दृष्टि अपने स्वरूप में सामान्य प्रकृति की होगी विशिष्ट स्वरूप की नहीं। यह दृष्टि मुख्यतः भाषा के केवल अवर्णनात्मक वाक्य अर्थात् **भाव बोधक, प्रश्न सूचक, आज्ञा सूचक, प्रार्थना सूचक आदि वाक्यों के रुपों** में अभिव्यक्त होने के साथ-साथ प्रतीकों और संकेतों के रूप में होती है। वर्णनात्मक और तार्किक स्वरूप में या तो होती ही नहीं, या होती है तो गौण रूप में। इसलिए लोक जीवन दृष्टि को समझने के लिए भाषा के **अवर्णात्मक रूप गीत, कहानी, कहावत, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, चुटकुले, गप्प अथवा मौन या प्रतीकों और संकेतों पर आधारित संगीत, नृत्य कर्मकांड, परंपराओं, रीति रिवाजों** आदि का अध्ययन करना होगा। अतएव जनजातीय जीवन दर्शन को लोक दर्शन के आलोक में समझने के लिए हमें उक्त अध्ययन पद्धति को अपनाना होगा।

प्रस्तुत शोध पत्र में उक्त अध्ययन पद्धति के माध्यम से जनजातीय जीवन दर्शन को समझने की कोशिश की गयी है।

Keywords: लोक दर्शन, जनजातीय जीवन दर्शन, लोक आख्यान, मौखिक परंपरा, भारतीय ज्ञान परंपरा, लोक संस्कृति

Copyright © 2020 The Author(s): This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution 4.0 International License (**CC BY-NC 4.0**).

जनजातीय जीवन दर्शन को समझने के लिये सामग्री के स्रोत के रूप में **लोक आख्यानों (फोकलोर)** को समझना होगा जो प्रायः लिखित न होकर मौखिक होते है। जो लोक आख्यान लिखित रूप में उपलब्ध है वह भी मौखिक परंपरा का ही लिखित दस्तावेज है। लोक आख्यानों के विविध विधाओं और रूपों के अध्ययन से मूल प्रश्न यह उठता है की जनजातीय **'जीवन दर्शन'** विकसित होने की प्रक्रिया क्या है? वह कौन सी प्रणाली है जिसका उपयोग करके जीवन दर्शन विकसित होता है? जीवन के स्वरूप पर विचार करने पर कम से कम तीन आयाम हमारे सामने आते है- **लोक अनुसंधान, लोक सृजन और लोक व्यवस्था।** इन तीनों आयामों के बिना किसी भी जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव की उत्पत्ति से लेकर आज सभ्य समाज तक एक निश्चित व्यवस्था के तहत मानव में अनुसंधान करने और सृजन करने की प्रवृत्ति उसके जीवन का अपरिहार्य अंग रहा है। अनुसंधान, सृजन और व्यवस्था आयामों के विकास की दो दिशायें रही है। प्रथम, व्यक्ति विशेष की विशिष्ट प्रतिभा से उपजी अनुसंधान, सृजन और व्यवस्था। दूसरा, सामान्य प्रतिभा से उपजी अनुसंधान, सृजन और व्यवस्था। समाज में दोनों तरह की प्रवृति समानांतर चलती रहती है और इसी से जीवन और समाज समृद्ध और विकसित होता रहता है। सामान्यतः यह देखा गया है की **विशिष्ट प्रतिभा के योगदान से सभ्यता का और सामान्य प्रतिभा के योगदान से संस्कृति** का विकास होता आया है। यद्धपि दोनों में स्पष्ट: विभाजन की रेखा नहीं खीची जा सकती है। दोनों ही प्रकार की प्रतिभा परस्पर मिलकर मनुष्य जाति का निर्माण करती रही है और उनके जीवन और समाज को सभ्यता और संस्कृति के रूप में संपन्न करती रही। फिर भी विशिष्ट प्रतिभा और सामान्य प्रतिभा की भूमिका को पृथक-पृथक अवधारणा के रूप में हमें समझना होगा।

जीवन, दर्शन और संस्कृति को इसी सामान्य प्रतिभा के आधार पर ही समझा जा सकता है। जनजातीय समाज के जीवन की पूरी प्रक्रिया और उसके संपूर्ण जीवन के काल खंड में **'सामूहिक चेतना'** और इस चेतना के रूपांतरण एवं एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक के हस्तांतरण के लिए **'परंपरा और स्थानीयता'** का **चक्रीय काल** बोध ही केंद्रीय धुरी है।इसी से उनका संसार रचा बसा रहता है। इन तीनों का अनुगमन सामान्य अनुसंधान, सृजन और व्यवस्था के द्वारा किया जाता है। सामान्य चेतना से युक्त, लोक चेतना के द्वारा जिया गया जीवन को विस्तार से समझने की आवश्यकता है।

लोक अनुसंधान: लोगों के द्वारा किया जाने वाला अनुसंधान लोक अनुसंधान कहलाता है। जिसमे विशिष्ट प्रतिभा की जगह सामान्य प्रतिभा की आवश्यकता होती है। वैज्ञानिक प्रक्रिया के ही समान इसमें भी **निरीक्षण, प्रयोग और सूझ-बूझ** का प्रयोग किया जाता है किंतु, इसमें लोक चेतना का प्रतिनिधित्व **'सामूहिक सहमति'** और **'परंपरा की संगति'** से की जाती है। जनजातीय समाज अपनी समस्याओं के निरीक्षण में स्वयं उनका समाज, प्रकृति (जल, जंगल, जानवर और ज़मीन आदि) पूर्वज, परंपरा और दैनिक जीवन की दिनचर्या और घटनायें आती है। निरीक्षण की प्रक्रिया सामूहिक रूप से निरंतर चलती रहती है। निरीक्षण के ही समानांतर अथवा आगे प्रयोग की क्रिया भी

***Corresponding Author:** डॉ. राकेश सोनी

चलती राहती है। दोनों ही प्रक्रिया कभी सचेतन और कभी अवचेतन रूप में चलती रहती है। जीवन की समस्या और उसका समाधान का बोध एक दूसरे पर गुंफित होकर **अपृथक** रूप से चलता रहता है। जैसे ही किसी समस्या का समाधान प्राप्त होता है उनके लिये उत्सव बन जाता है और आगे चलकर परंपरा। समाधान के प्रयोग भी **'प्रयास और त्रुटि'** के सिद्धांत से परिचालित होता है, किंतु होता है सामूहिक स्तर पर न की व्यक्तिगत किसी प्रयोगशाला में। समाज ही इनकी प्रयोगशाला है। समस्या को पहचानने और फिर निरीक्षण के साथ प्रयोग के द्वारा सामूहिक सहमति प्राप्त की जाती है तब जा कर वह स्वीकार्य होता है। केवल स्वीकार्यता ही पर्याप्त नहीं है समाधान को **परंपरा के साथ सायुज्य** भी होना चाहिये। यदि किसी आधारभूत मान्यताओं के साथ किसी प्रकार का **विरोध या असहजता** की स्थिति बनती है तो परस्पर **संवाद और अन्य विकल्पों** पर भी विचार किया जाता है। किंतु, किसी समस्या का कोई एक समाधान ही स्वीकार करना है, ऐसा मत स्वीकार्य नहीं होता है। **सहिष्णुता और सर्वसम्मति** ही अनुसंधान की वैधता है जो उनके **सहज बोध** को संतुष्ट करती है।

लोक सृजन: लोक के द्वारा लोक चेतना का, लोक के लिये किया गया सृजन कार्य ही **लोक सृजन** है। जनजातियों में साहित्य, संगीत, नृत्य, गीत, चित्रकारी, वास्तु, शिल्प, कला आदि सृजनात्मकता के जितने भी विधायें है, वे सभी उनकी सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति है न कि किसी व्यक्ति विशेष की विशिष्ट अनुभूति जैसा कि आधुनिक कलाओं में दिखाई देता है। उनके सृजनात्मकता के विषय भी सामूहिक जीवन ही होता है जिसमें **पशु, पक्षी, जंगल, पहाड़, नदी, घाटी, आखेट, उत्सव, विवाह, त्योहार, परिवार, देवी, देवता, पूर्वज, पूजा, मेला, रात्रि, सूरज, चाँद, सितारे** आदि से संबंधित घटनायें या अनुभव आते है। जनजातीय आख्यानो की संपूर्ण अभिव्यक्ति सामूहिक चेतना का उत्सव है जिसमें केवल आनंद और समरसता की धारा बहती है। प्रकृति और समाज चेतना परस्पर घुले मिले हुए होते है, उनमे प्राथकता नहीं है। उनके सर्जनात्मक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उनकी **स्थानीयता और समय का चक्रीय बोध।**

स्थानीयता से आशय जीवन की सारी धाराओं की शाखायें-प्रतिशाखायें उनकी निवास भूमि से ही जन्म लेती है और इसी में शांत होती है। भूमि के प्रति उनका आत्मीय लगाव जीवन के सारे मूल्यों की वैधता प्रदान करती है। उनकी ज्ञान-विज्ञान की परंपरा, नैतिक आचरण के मानदंड, धार्मिक रीतिरिवाज और संस्कृति के सभी आयामों की प्रामाणिकता और महत्व भूमि की सीमाओं से बंधी होती है। भूमि से उनका जुड़ाव उनकी चेतना को पहचान और विस्तार देती है। उनकी हर शिल्प, साहित्य और कला में **'भूमि पुत्र'** की भावना और अवधारणा परिलक्षित होती है। इसी प्रकार उनकी जीवन दृष्टि समय को अतीत, वर्तमान और भविष्य के रेखीय क्रम के रूप में न देख कर वर्तुल रूप में देखते है। इसीलिए उनके प्रायः सभी नृत्य एक गोले के आकार में घूमती रहती है। गीतों के लय और छंद में भी वर्तुल की पुनरावृत्ति होती है। **आनंद** सृजनात्मकता की मूल ऊर्जा है, जिसकी मदद से वे जीवन और जगत के यथार्थ को समझते और अनुभव करते है।

लोक व्यवस्था: जीवन का तीसरा आयाम व्यवस्था है।अनुसंधान और सृजन से प्राप्त तथ्य और मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तांतरित तभी संभव है जब वह व्यवस्था की प्रक्रिया से गुजरे। तथ्यों और मूल्यों की वैधता के लिए व्यवस्था की आवश्यकता होती है। व्यवस्था के कई आयाम है किंतु, जनजातीय समाज में व्यवस्था का अपना निजी और मौलिक पद्धति है। लोकतंत्र के सभी मूल्य यथा- **स्वतंत्रता, समानता, बंधुत्व, न्याय और पंथ निरपेक्षता** की जननी आदिम समाज है, जो उनकी संस्कृति में परिलक्षित होती है। उनमें आज की तरह विकसित व्यवस्था भले ही न हो लेकिन आज की व्यवस्था के बीज उनमें अवश्य मिल जाएँगे।जीवन व्यवस्था के विविध रूप इस प्रकार है-**शासन, प्रशासन, प्रबंधन, परंपरा, प्रकृति और आत्मानुशासन।**

शासन: इस समाज में शासन का रूप **पंचायत व्यवस्था** या इसी के अनुरूप अन्य नामों से विभिन्न जनजातियों में पाया जाता है। इस व्यवस्था में मूल रूप से **गाँव के बुजुर्गों एवं कुछ चयनित प्रतिनिधि युवाओं** का समूह होता है जो सभी प्रकार की समस्याओं को सुनकर समाधान प्रस्तुत करता है। जिसे मानना सभी के लिये अनिवार्य है। विचार विमर्श के लिए पर्याप्त अवसर होते है, असहमति के लिए भी स्थान रहता है। किंतु, सर्वसम्मति या बहुमत से एक बार निर्णय होने के बाद बिना किसी अपवाद के उसका पालन करना सभी का कर्तव्य हो जाता है। आदेश के उल्लंघन पर उसे सजा भी मिलती है।सजा श्रमदान, सामूहिक भोज आदि से लेकर समाज से निष्कासन् और मृत्यु दंड तक दिया जा सकता है, निर्भर करता है कि अपराध किस तरह का किया गया है।

प्रशासन: आज के समाज की तरह प्रशासन और शासन में पार्थक्य नहीं था बल्कि दोनों ही परस्पर अभिन्न होते थे। और यदि किसी जनजातीय समाज में दिखायी भी देता है तो वे स्थाई प्रकृति के नहीं होते है। प्रायः बुजुर्गों और चयनित प्रतिनिधियों के समूह को ही निर्णयों के क्रियान्वयन के ज़िम्मेदारी होती है। हाँ, उनके आदेश पर किसी अन्य व्यक्ति या समूह को इसकी ज़िम्मेदारी एवं शक्ति को भी हस्तांतरित की जा सकती है। जिसका पालन करना उस व्यक्ति या समूह को अनिवार्य हो जाता है। दिये गये कार्य की ज़िम्मेदारी पूरा न होने पर उचित दंड के भागीदार वे भी हो जाते है। इतना ही नहीं प्रोत्साहन के रूप में उचित इनाम या पुरस्कार देने की भी व्यवस्था इस समाज में पायी जाति है।

प्रबंधन: प्रबंधन की अवधारणा तो आधुनिक है जो निश्चित समय में किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किए गये सामूहिक प्रयास को कहा जाता है किंतु, आदिम समाज में भी इस तरह की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस तरह की प्रवृत्ति भी शासन, प्रशासन और प्रबंधन में कोई भेद नहीं पाया जाता है। दरअसल ये तीनों ही एक ही कार्य के हिस्से है। जनजातियों में जब किसी सामूहिक लक्ष्य को प्राप्त करने का निर्णय लिया जाता है जैसे शिकार करना, किसी कारण वश एक स्थान से दूसरे स्थान के लिए पलायन करना या कोई धार्मिक अनुष्ठान करने का निर्णय लेना तो उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए बुजुर्गों के अनुभव और युवाओं के उत्साह की कुशलता के संयोजन से कार्य को सफलता पूर्वक संपन्न करा दिया जाता है।

***Corresponding Author:** डॉ. राकेश सोनी

परंपरा: जनजातीय समाज में क़ानून और नियमों के स्रोत के रूप में उनके समाज की **परंपराओं** को माना गया है। परंपरा ही क़ानून है और क़ानून ही परंपरा है। ऐसा नहीं है की उनकी परंपराओं में संशोधन या परिवर्तन नहीं होता। स्थान और समय के परिवर्तन से उनकी परंपराओं में भी आवश्यक संशोधन होते रहते है, और नयी परंपराओं का भी जन्म होता रहता है जो क़ानून की भाँति लागू होते है। किंतु, परंपराओं में आधुनिक समाज की अपेक्षा इनमें परिवर्तन और संशोधन की गति कम होती है। इनमें परिवर्तन होना उतना आसान नहीं होता। परिणामतः **परंपरा** ही क़ानून बनकर पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती है। जनजातीय समाज **स्वायत्य समाज** है जो अपने ही द्वारा बनायी गई परंपराओं पर विश्वास करती है।

प्रकृति: जनजातीय समाज को **नियंत्रित और निगमित** करने में प्रकृति के स्वाभाविक नियमों की केंद्रीय भूमिका होता है। प्रकृति के गोद में रहकर जीवन जीना उनके समाज की प्रमुख विशेषताओं में से एक है। जन्म से लेकर मृत्युपर्यंत तक सभी अनुष्ठानों और कर्म कांड में प्रकृति की छाया दिख जायेगी। उनके द्वारा ऐसा कोई काम नहीं किया जाएगा जिससे प्रकृति की कोई हानि हो या उसका क्षय होता हो। प्रकृति की हर घटना के प्रति सम्मान और आदर का भाव होता है। फलतः उनके सामाजिक जीवन के नियंत्रण के सूत्र प्रकृति के साथ गुँथे होते है। **सूर्योदय, सूर्यास्त, रात्रि, दिवस, वर्षा, ठंड, गर्म, बसंत, पेड़-पौधों के फूल, पत्ते, जड़, तना, लकड़ी और पशु-पक्षी, नदी, पहाड़, तालाब, पोखरा, जल, भूमि आदि** के साथ उनका साहचर्य और आत्मीयता का व्यवहार किसी डर या आतंक से नहीं बल्कि **स्वस्फूर्त और प्रेम** से युक्त होता है। प्रकृति का संरक्षण उनके लिए कोई मुद्दा नहीं बल्कि जीवन का हिस्सा है, जिसे जीवन पर्यंत निभाना अपना सौभाग्य समझते है।

आत्मानुशासन: जीवन व्यवस्था के रूप में उनके **आत्मानुशासन** को समझना भी आवश्यक है। **आत्मानुशासन** से आशय समाज द्वारा स्थापित और परंपरा से चले आ रहे जीवन मूल्यों के अनुसार जीवन जीना। यह तो सर्व विदित तथ्य है जनजातियों का व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन से अलग नहीं होता। इसे वे पाप या गर्हित जीवन मानते है। वही कार्य उचित और नैतिक है जो उनके समाज को स्वीकार्य और मान्य है।जो कार्य समाज द्वारा मान्य नहीं वह कार्य या जीवन मूल्य उन्हें भी मान्य नहीं। समाज की मान्यताएँ सही है या ग़लत उनके लिए यह प्रश्न नहीं है बल्कि प्रश्न यह है कि समाज पर उसका प्रभाव कितना और कैसे पड़ता है? तथा पूर्वजों के द्वारा स्थापित मूल्यों के साथ संगति बैठती है नहीं? यदि हाँ, तो स्वीकार्य अन्यथा अस्वीकार्य है, फिर चाहे इसके लिए उन्हें जो भी क़ीमत अदा करना पड़े। बाहर का कोई भी क़ानून या नियंत्रण उन्हें अस्वीकार्य होता है। संभवतः इसीलिए संविधान में उन्हें शासन और प्रशासन के लिए **पृथक और विशेष दर्जा** दिया गया है।

व्यवस्था के भीतर ही कृषि, पशुपालन और शिल्प आदि का आर्थिक कर्म भी उनकी अपनी विशिष्टाओं के लिये जाना जाता है जो उनके जीवनयापन और संपन्नता के लिए के आवश्यक तत्व है। इसी प्रकार इनकी अपनी आंतरिक और बाह्य सुरक्षा व्यवस्था भी है जो किसी भी अज्ञात और आकस्मिक विषम परिस्थिति में स्वतः ही सक्रिय हो जाती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जनजातियों की अपनी विशिष्ट जीवन पद्धति होने की वजह से इनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और दर्शन भी है। प्रश्न यह है की इनके जीवन दर्शन को जानने और समझने के लिए क्या परम्परागत दर्शन की **पदावलियों और अवधारणाओं** के आधार पर भी समझा जा सकता है? अर्थात् क्या जनजातियों की भी अपनी **तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा और मूल्य मीमांसा** हो सकती है? यदि हाँ, तो वह कैसे संभव है?

यह सर्वविदित तथ्य है की विचारों के विकास का संबंध भाषा के विकास से अनिवार्य रूप से संबंधित होता है। जनजातियों की भाषा के विकास में **अवर्णनात्मक वाक्यों** का जितना विकास हुआ है उतना **वर्णनात्मक वाक्यों** का नहीं और न ही इसकी तार्किकता का, फिर भी परंपरागत दर्शनशास्त्र की पदावली में उनके दर्शन को इस प्रकार से समझा जा सकता है:

तत्त्वमीमांसा: जनजातियों की जीवन पद्धति को देखने पर उनमे **अद्वैत, द्वैत और बहुतत्ववाद** के संयोजन का बीजरूप पाया जाता है। तीनों ही दृष्टियाँ संयुक्त रूप से अविकसित रूप में दिखाई पड़ती है। **प्रकृति, समाज और पूर्वजों** को संयुक्त रूप से अद्वैततत्त्व के रूप में देखा जा सकता है। जीवन के हर रूप और रंग को स्थान परिवर्तन, देवी देवता एवं अनुष्ठानों की विविधता के साथ सहजता से स्वीकार करने से उनमें अनेकतत्त्व का बोध भी है। मूलभूत विश्वास, व्यवहारिक आचरण और अनुष्ठानों के औचित्य एवं मूल्यों के आधार पर संघर्ष और द्वैत की स्थिति बनती है। इनमें जीवन को भौतिक, जैविक और चेतना के स्वरूप को संयुक्त रूप से देखा गया है। **ईश्वर, स्वर्ग, नरक और मुक्ति** की अवधारणाओं के अभाव होने के बावजूद सृष्टि और समाज की उत्पत्ति, संचालन और विनाश के आख्यान बहुतायत में पाया जाता है, जो **विश्वविज्ञान** से संबंधित धारणाओं को प्रकट करते है। अतः विचारों की तीनों ही दृष्टियाँ अविकसित रूप में सही, व्यापक रूप से परिलक्षित होती है।

ज्ञानमीमांसा: जनजातियों के जीवन में ज्ञान से आशय ज्ञान के **संज्ञानात्मक, अवधारणात्मक एवं क्रियात्मक या कुशलता** के संयोजित रूप से है। उनके लिए ज्ञान केवल जानकारी, तार्किक संतुष्टि और कुशलता तक ही सीमित नहीं बल्कि इन तीनों के परिणाम से जो फल की प्राप्ति होती है उसे वे ज्ञान के रूप में स्वीकार करते है। ज्ञान के साधन की दृष्टि से **इंद्रियअनुभव, बुद्धि, शब्द परंपरा और सहज ज्ञान** को संयुक्त रूप से जो बोध या समझ प्राप्त होती है, उसके आधार पर उनके साधनों को माना जा सकता है। कोई एक ज्ञान का साधन जीवन के लिए पर्याप्त नहीं है। इन सभी साधनों के क्रमिक या समांतर रूप से समान महत्व माना जा सकता है। ज्ञान की प्रमाणिकता का प्रश्न उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि जीवन की प्रमाणिकता का। **जीवन और ज्ञान** दोनों ही जीवन जीने के एक ही आयाम के दो अपृथक पहलू है।

***Corresponding Author:** डॉ. राकेश सोनी

मूल्य मीमांसा: अपरिग्रह के साथ **आनंद** पूर्वक जीवन जीना ही उनके जीवन का केंद्रीय मूल्य है। जिस कार्य एवं विश्वास से सामूहिक आनंद की प्राप्ति होती है वही उनके लिए नैतिक मूल्य है और जिन कार्यों एवं विश्वास से सामूहिक आनंद की प्राप्ति नहीं होती या उससे कम होती है उसे अनैतिक माना जा सकता है। ध्यातव्य है की

आनंद की दो विशेषताएँ हैं- प्रथम आनंद से आशय व्यक्तिगत आनंद न होकर सामूहिक आनंद से है। व्यक्तिगत आनंद आवश्यक तो है लेकिन वह तब तक जीवन मूल्य नहीं बनता जब तक वह आनंद सामूहिकता में रूपांतरित न हो जाये। दूसरा, आनंद कोई परम तत्त्व नहीं बल्कि विशुद्ध भौतिक, मानसिक, प्राकृतिक और ऐंद्रिक स्वरूप की होती है किंतु, अत्यंत सहज, निःस्वार्थ और प्रेम पूर्वक होने से अतींद्रिय जैसा भी होता है।सत्य और सौंदर्य का मूल्य भी आनंद के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन इन सबकी अभिव्यक्ति **'सामूहिक जीवन जीने'** के रूप में ही होती है।

निष्कर्ष: उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है की जनजातीय जीवन दर्शन **लोक दर्शन** का ही विशिष्ट रूप है जो अपनी प्रमाणिकता और तार्किकता के लिये अपनी विशिष्ट संस्कृति से ऊर्जा प्राप्त करते है। दर्शनशास्त्र की हर दृष्टि का **प्रस्थान बिंदु जनजातीय जीवन दर्शन है**, जिसे गंभीरता से जानने और समझने की आवश्यकता है।

संदर्भ:

1. **The Tribes and Castes of the Central Provinces of India**: Russell, R. V. & Hiralal, Macmillan and Company, (1916) London; Rpt. (1975) Vol. III, Cosmo Publication, Delhi.
2. **Tribal Painting and Sculpture**: Mishra, U. C., B. R. Publishing Corporation, (1989) Delhi.

***Corresponding Author:** डॉ. राकेश सोनी